INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL
ISSN NO : 2230-7850
IMPACT FACTOR : 5.1651 (UIF)
VOLUME - 16 | ISSUE - 4 | MAY – 2026

दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयाम का अध्ययन

मधु सिंह
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

डॉ. रमेश सिंह वाट
सहायक प्राध्यापक हिन्दी
शासकीय महाविद्यालय, जैतहरी, जिला अनूपपुर (म.प्र.)

सारांश –

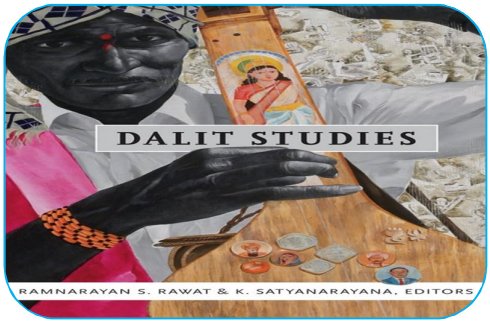

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना प्राचीन काल से ही वर्ण–व्यवस्था और जातिगत विभाजन पर आधारित रही है। इस व्यवस्था ने समाज में ऊँच–नीच, असमानता तथा सामाजिक विषमता को स्थायी रूप प्रदान किया। परिणामस्वरूप समाज का एक बड़ा वर्ग, जिसे शूद्र, अन्त्यज अथवा अस्पृश्य कहा गया, सदियों तक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहा। आधुनिक समय में यही वर्ग 'दलित' के रूप में पहचाना गया। दलित समाज केवल सामाजिक रूप से ही नहीं, बल्कि राजनीतिक रूप से भी उपेक्षित रहा। उन्हें शासन–व्यवस्था, सत्ता–संरचना तथा निर्णय–प्रक्रिया में भागीदारी से दूर रखा गया। इस प्रकार भारतीय समाज में जातिगत असमानता का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। आधुनिक युग में शिक्षा, सामाजिक जागरण तथा लोकतांत्रिक विचारधाराओं के विकास के साथ दलित चेतना का उदय हुआ, जिसने दलित समाज को अपने राजनीतिक अधिकारों, प्रतिनिधित्व तथा सामाजिक न्याय के प्रति जागरूक किया। इसी संदर्भ में 'दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयाम' का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

मुख्य शब्द – भारतीय समाज, सामाजिक संरचना, वर्ण–व्यवस्था, ऊँच–नीच, असमानता एवं सामाजिक विषमता।

प्रस्तावना –

हिन्दी दलित राजनीति का मूल आधार सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय अधिकारों की स्थापना है। भारतीय समाज में लंबे समय तक राजनीतिक शक्ति और प्रशासनिक अधिकार उच्च जातियों के नियंत्रण में रहे। दलित समाज को सत्ता–संरचना से दूर रखने के कारण उनकी समस्याएँ और अधिकार उपेक्षित बने रहे। राजनीतिक चेतना के अभाव में दलित वर्ग सामाजिक और आर्थिक शोषण का निरन्तर शिकार होता रहा। आधुनिक काल में भीमराव रामजी अम्बेडकर ने दलित समाज को राजनीतिक अधिकारों और प्रतिनिधित्व के प्रति जागरूक किया। उनका विचार था कि सामाजिक परिवर्तन और दलित मुक्ति के लिए राजनीतिक शक्ति अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने स्पष्ट किया कि राजनीतिक भागीदारी के बिना दलित समाज अपने अधिकारों और सम्मान की रक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार दलित राजनीति सामाजिक परिवर्तन और आत्मसम्मान की चेतना का महत्वपूर्ण माध्यम बनकर सामने आई।[1]

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान दलित प्रश्न एक महत्वपूर्ण राजनीतिक मुद्दे के रूप में उभरा। यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य अंग्रेजी शासन से मुक्ति प्राप्त करना था, किन्तु दलित समाज के लिए सामाजिक समानता और राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण था। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की माँग कर राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न को राष्ट्रीय विमर्श का विषय बनाया। 1932 के पूना पैक्ट ने दलित राजनीति को नई दिशा प्रदान की। यद्यपि पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था समाप्त कर दी गई, किन्तु अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों की व्यवस्था स्वीकार की गई। इस घटना ने यह स्पष्ट किया कि दलित राजनीति केवल सामाजिक सुधार का प्रश्न नहीं, बल्कि राजनीतिक अधिकारों और सत्ता–साझेदारी का भी प्रश्न है।[2]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान ने दलित समाज को समानता, स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय के संवैधानिक अधिकार प्रदान किए। संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए शिक्षा, रोजगार तथा राजनीति में आरक्षण की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था केवल सुविधा प्रदान करने का माध्यम नहीं थी, बल्कि सदियों के सामाजिक अन्याय और राजनीतिक उपेक्षा की भरपाई का प्रयास थी। भारतीय लोकतंत्र में दलित राजनीति का विकास इसी संवैधानिक व्यवस्था का परिणाम है। संसद, विधानसभाओं तथा स्थानीय निकायों में आरक्षण ने दलित समाज को राजनीतिक प्रतिनिधित्व और निर्णय–प्रक्रिया में भागीदारी का अवसर प्रदान किया।[3]

दलित राजनीति का एक महत्वपूर्ण पक्ष राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सत्ता–साझेदारी है। लंबे समय तक भारतीय राजनीति में उच्च जातियों का प्रभुत्व बना रहा, जिसके कारण दलित वर्ग की समस्याएँ राजनीतिक विमर्श में गौण बनी रहीं। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और आरक्षण व्यवस्था ने दलित समाज को राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाया। कांशीराम तथा मायावती जैसे नेताओं ने दलित राजनीति को सामाजिक आन्दोलन के रूप में विकसित किया। बहुजन राजनीति ने यह स्थापित किया कि राजनीतिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन और आत्मसम्मान की प्राप्ति का प्रभावशाली माध्यम है। इस प्रकार दलित राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र को अधिक व्यापक और समावेशी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[4]

दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयामों का सम्बन्ध केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता और मानवाधिकारों से भी जुड़ा हुआ है। दलित राजनीति ने शिक्षा, रोजगार, भूमि–अधिकार, सामाजिक सुरक्षा तथा मानवाधिकारों के प्रश्नों को प्रमुखता से उठाया। दलित आन्दोलन ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक समानता के बिना राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा है। इस दृष्टि से दलित राजनीति सामाजिक परिवर्तन और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना का सशक्त माध्यम है।[5]

दलित राजनीति का सांस्कृतिक और वैचारिक पक्ष भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दलित आन्दोलन ने केवल राजनीतिक अधिकारों की माँग नहीं की, बल्कि ब्राह्मणवादी सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक वर्चस्व को भी चुनौती दी। दलित साहित्य, पत्रकारिता तथा सामाजिक आंदोलनों ने राजनीतिक चेतना को व्यापक स्वरूप प्रदान किया। ओमप्रकाश वाल्मीकि तथा शरणकुमार लिंबाले जैसे साहित्यकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से दलित राजनीति और सामाजिक न्याय के प्रश्नों को साहित्यिक विमर्श का विषय बनाया। इस प्रकार दलित साहित्य राजनीतिक चेतना और सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण उपकरण बन गया।[6]

समकालीन भारतीय समाज में दलित राजनीति की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। आधुनिकता, शिक्षा तथा संवैधानिक अधिकारों के बावजूद समाज में जातिगत भेदभाव, सामाजिक हिंसा तथा राजनीतिक उपेक्षा की समस्याएँ विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं। ऐसे समय में दलित राजनीति समाज को लोकतांत्रिक मूल्यों, सामाजिक न्याय तथा मानवीय समानता की ओर उन्मुख करती है। यह राजनीति केवल दलित समाज तक सीमित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण समाज के मानवीय और लोकतांत्रिक विकास से जुड़ी हुई है।[7]

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना प्राचीन काल से ही वर्ण–व्यवस्था और जातिगत विभाजन पर आधारित रही है। इस व्यवस्था ने समाज में ऊँच–नीच तथा असमानता को स्थायी रूप प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप दलित वर्ग सदियों तक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहा। दलितों को केवल सामाजिक रूप से ही नहीं, बल्कि राजनीतिक रूप से भी हाशिये पर रखा गया। उन्हें शासन–व्यवस्था, प्रशासन, निर्णय–प्रक्रिया तथा सत्ता–संरचना में भागीदारी से दूर रखा गया। आधुनिक काल में सामाजिक जागरण, शिक्षा तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के विकास के साथ दलित चेतना का उदय हुआ और दलित

समाज ने अपने राजनीतिक अधिकारों तथा प्रतिनिधित्व के प्रश्न को प्रमुखता से उठाया।[8] इसी प्रक्रिया ने भारतीय राजनीति में दलित विमर्श और दलित राजनीति को एक सशक्त वैचारिक एवं सामाजिक आन्दोलन के रूप में स्थापित किया।

विश्लेषण –

दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयामों का मूल आधार सामाजिक न्याय और समानता की अवधारणा है। भारतीय समाज में दलित वर्ग को लंबे समय तक सत्ता–संरचना से बाहर रखा गया, जिसके कारण उनकी समस्याएँ और अधिकार उपेक्षित रहे। राजनीतिक चेतना के अभाव में दलित समाज सामाजिक शोषण और आर्थिक विषमता का शिकार बना रहा। आधुनिक समय में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित समाज को राजनीतिक अधिकारों और प्रतिनिधित्व के प्रति जागरूक किया। उनका विचार था कि सामाजिक परिवर्तन और दलित मुक्ति के लिए राजनीतिक शक्ति अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि बिना राजनीतिक भागीदारी के दलित समाज अपने अधिकारों और सम्मान की रक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार दलित राजनीति सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम बनकर सामने आई।

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान भी दलित प्रश्न एक महत्वपूर्ण राजनीतिक मुद्दा रहा। यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य अंग्रेजी शासन से मुक्ति प्राप्त करना था, किन्तु दलित समाज के लिए सामाजिक समानता और अधिकारों का प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण था। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की माँग कर राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न को राष्ट्रीय विमर्श का विषय बनाया। 1932 के पूना–पैक्ट ने दलित राजनीति को नया मोड़ दिया। यद्यपि पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था समाप्त कर दी गई, किन्तु अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों की व्यवस्था स्वीकार की गई। इस घटना ने यह स्पष्ट किया कि दलित राजनीति केवल सामाजिक सुधार का प्रश्न नहीं, बल्कि सत्ता–संरचना और राजनीतिक भागीदारी का भी प्रश्न है।

भारतीय संविधान ने दलित समाज को राजनीतिक समानता और संवैधानिक अधिकार प्रदान किए। संविधान में समानता, स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय तथा मौलिक अधिकारों की व्यवस्था ने दलित समाज को नई दिशा प्रदान की। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए शिक्षा, रोजगार और राजनीति में आरक्षण की व्यवस्था सामाजिक न्याय की अवधारणा पर आधारित थी। यह व्यवस्था दलित समाज को मुख्यधारा से जोड़ने तथा उन्हें राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रयास थी। भारतीय लोकतंत्र में दलित राजनीति का विकास इसी संवैधानिक व्यवस्था का परिणाम है। दलितों के लिए संसद, विधानसभाओं तथा स्थानीय निकायों में आरक्षण ने उन्हें राजनीतिक शक्ति और निर्णय–प्रक्रिया में भागीदारी का अवसर प्रदान किया।

दलित राजनीति का एक महत्वपूर्ण आयाम राजनीतिक प्रतिनिधित्व है। लंबे समय तक भारतीय राजनीति में उच्च जातियों का प्रभुत्व बना रहा, जिसके कारण दलित वर्ग की समस्याएँ उपेक्षित रहीं। आरक्षण व्यवस्था और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं ने दलित समाज को राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया। दलित नेताओं और राजनीतिक संगठनों ने दलित समाज के अधिकारों, सम्मान और सामाजिक न्याय के प्रश्न को राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र में स्थापित किया। कांशीराम तथा मायावती जैसे नेताओं ने दलित राजनीति को एक सशक्त सामाजिक आन्दोलन के रूप में विकसित किया। बहुजन राजनीति ने यह स्थापित किया कि राजनीतिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन का प्रभावशाली माध्यम है।

दलित राजनीति का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम सामाजिक न्याय की अवधारणा है। भारतीय लोकतंत्र में सामाजिक न्याय का अर्थ केवल कानूनी समानता नहीं, बल्कि समाज के उपेक्षित वर्गों को अवसर और सम्मान प्रदान करना भी है। दलित राजनीति ने शिक्षा, रोजगार, भूमि–सुधार, सामाजिक सुरक्षा तथा मानवाधिकारों के प्रश्नों को प्रमुखता से उठाया। दलित आन्दोलन ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक समानता के बिना राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा है। इस दृष्टि से दलित राजनीति सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की पक्षधर है।

दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयामों में आरक्षण व्यवस्था का विशेष महत्व है। आरक्षण केवल आर्थिक सुविधा नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिनिधित्व और ऐतिहासिक अन्याय की भरपाई का माध्यम है। दलित समाज सदियों तक शिक्षा, प्रशासन और सत्ता–संरचना से वंचित रहा था, इसलिए आरक्षण को सामाजिक समानता

स्थापित करने का संवैधानिक उपाय माना गया। यद्यपि आरक्षण व्यवस्था का अनेक स्तरों पर विरोध हुआ, फिर भी इसने दलित समाज में शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक चेतना का विकास किया। दलित मध्यवर्ग का उदय और प्रशासनिक सेवाओं में दलितों की भागीदारी इसी प्रक्रिया का परिणाम है।

दलित राजनीति का सांस्कृतिक और वैचारिक पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दलित आन्दोलन ने केवल राजनीतिक अधिकारों की माँग नहीं की, बल्कि ब्राह्मणवादी सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक वर्चस्व को भी चुनौती दी। दलित चेतना ने यह स्थापित किया कि सामाजिक समानता और मानवाधिकार लोकतंत्र के मूल आधार हैं। दलित साहित्य, दलित पत्रकारिता और सामाजिक आंदोलनों ने राजनीतिक चेतना को व्यापक रूप प्रदान किया। ओमप्रकाश वाल्मीकि तथा शरणकुमार लिंबाले जैसे साहित्यकारों ने अपने लेखन के माध्यम से दलित राजनीति और सामाजिक न्याय के प्रश्नों को साहित्यिक विमर्श का विषय बनाया।

दलित राजनीति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आयाम लोकतांत्रिक सहभागिता है। भारतीय लोकतंत्र में चुनाव प्रक्रिया ने दलित समाज को राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाया। पंचायतों, नगर निकायों तथा विधानसभाओं में आरक्षण ने दलितों को नेतृत्व और प्रशासनिक अनुभव प्रदान किया। इससे दलित समाज में आत्मविश्वास और राजनीतिक जागरूकता का विकास हुआ। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी ने दलित वर्ग को यह अनुभव कराया कि राजनीतिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन और आत्मसम्मान की प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन है।

दलित राजनीति के समक्ष अनेक चुनौतियाँ भी विद्यमान हैं। आज भी समाज में जातिगत हिंसा, सामाजिक भेदभाव तथा राजनीतिक उपेक्षा की घटनाएँ देखने को मिलती हैं। अनेक बार दलित राजनीति केवल सत्ता–प्राप्ति तक सीमित हो जाती है और सामाजिक परिवर्तन का मूल उद्देश्य कमजोर पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त दलित समाज के भीतर वर्गीय विभाजन और राजनीतिक विखण्डन भी चुनौतियों के रूप में सामने आते हैं। फिर भी दलित राजनीति भारतीय लोकतंत्र में सामाजिक न्याय और समानता की दिशा में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में स्थापित हुई है।

समकालीन भारतीय राजनीति में दलित प्रश्न अत्यन्त प्रासंगिक बना हुआ है। शिक्षा, रोजगार, भूमि–अधिकार, मानवाधिकार तथा सामाजिक सुरक्षा जैसे मुद्दे आज भी दलित राजनीति के केन्द्र में हैं। दलित आन्दोलन ने भारतीय राजनीति को लोकतांत्रिक और समावेशी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस आन्दोलन ने यह स्थापित किया कि लोकतंत्र केवल राजनीतिक व्यवस्था नहीं, बल्कि सामाजिक समानता और मानवीय गरिमा की व्यवस्था भी है।

दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयाम भारतीय समाज और लोकतंत्र की संरचना से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं। दलित राजनीति ने सामाजिक न्याय, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, संवैधानिक अधिकार तथा लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने दलित समाज को आत्मसम्मान, अधिकार चेतना और राजनीतिक सहभागिता की दिशा में अग्रसर किया। दलित राजनीति केवल सत्ता–प्राप्ति का आन्दोलन नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और मानवाधिकारों की स्थापना का आन्दोलन है। इस दृष्टि से दलित राजनीति भारतीय लोकतंत्र को अधिक व्यापक, समावेशी और मानवीय बनाने की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

इस प्रकार दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयाम भारतीय समाज की सामाजिक संरचना, लोकतांत्रिक विकास तथा सामाजिक न्याय की अवधारणा से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं। भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था ने सदियों तक दलित वर्ग को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा। सत्ता–संरचना तथा निर्णय–प्रक्रिया पर उच्च वर्गों का प्रभुत्व बना रहा, जिसके कारण दलित समाज राजनीतिक रूप से उपेक्षित और असहाय स्थिति में बना रहा। आधुनिक युग में शिक्षा, सामाजिक जागरण तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के विकास के साथ दलित चेतना का उदय हुआ, जिसने दलित समाज को अपने अधिकारों, प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय के प्रति जागरूक किया। इस प्रकार दलित राजनीति भारतीय लोकतंत्र में सामाजिक परिवर्तन और समानता की स्थापना का महत्वपूर्ण माध्यम बनकर सामने आई। दलित राजनीति का मूल उद्देश्य सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा की स्थापना है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया कि राजनीतिक शक्ति के बिना दलित समाज अपनी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता। उन्होंने दलित समाज को शिक्षा, संगठन और संघर्ष का मार्ग दिखाते हुए राजनीतिक चेतना का विकास किया। भारतीय संविधान में समानता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्थापित कर उन्होंने दलित समाज को संवैधानिक

अधिकार प्रदान किए। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था सामाजिक न्याय की दिशा में ऐतिहासिक कदम सिद्ध हुई। दलित राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र को अधिक समावेशी और व्यापक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संसद, विधानसभाओं तथा स्थानीय निकायों में आरक्षण ने दलित समाज को राजनीतिक भागीदारी और नेतृत्व का अवसर प्रदान किया। इससे दलित वर्ग में आत्मविश्वास, अधिकार चेतना और सामाजिक सम्मान की भावना विकसित हुई। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी ने दलित समाज को यह अनुभव कराया कि राजनीतिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन और आत्मसम्मान की प्राप्ति का प्रभावशाली माध्यम है। इस प्रकार दलित राजनीति केवल सत्ता–प्राप्ति का आन्दोलन नहीं रही, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना का सशक्त माध्यम बन गई। दलित राजनीति का एक महत्वपूर्ण पक्ष सामाजिक न्याय की अवधारणा है। इस राजनीति ने शिक्षा, रोजगार, भूमि–अधिकार, सामाजिक सुरक्षा तथा मानवाधिकारों के प्रश्नों को राष्ट्रीय विमर्श का विषय बनाया। दलित आन्दोलन ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक समानता के बिना राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा है। इस दृष्टि से दलित राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र को सामाजिक आधार प्रदान किया और लोकतंत्र को केवल राजनीतिक व्यवस्था न मानकर सामाजिक समानता और मानवाधिकारों की व्यवस्था के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। दलित राजनीति का सांस्कृतिक और वैचारिक पक्ष भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दलित आन्दोलन ने ब्राह्मणवादी सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक वर्चस्व तथा जातिगत भेदभाव का विरोध किया। दलित साहित्य, पत्रकारिता तथा सामाजिक आंदोलनों ने दलित राजनीति को वैचारिक दृढ़ता प्रदान की। ओमप्रकाश वाल्मीकि, शरणकुमार लिंबाले तथा अन्य दलित साहित्यकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से दलित जीवन की पीड़ा, संघर्ष और राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्त किया। इस प्रकार दलित साहित्य सामाजिक और राजनीतिक चेतना का महत्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरा। दलित राजनीति के विकास में अनेक राजनीतिक नेताओं और संगठनों की भूमिका भी उल्लेखनीय रही है। कांशीराम तथा मायावती जैसे नेताओं ने बहुजन राजनीति को सामाजिक आन्दोलन का स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने दलित समाज को राजनीतिक रूप से संगठित कर सत्ता–संरचना में भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयास किया। इस प्रकार दलित राजनीति ने भारतीय राजनीति में उपेक्षित वर्गों की आवाज को सशक्त रूप प्रदान किया। यद्यपि दलित राजनीति ने सामाजिक न्याय और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, फिर भी इसके समक्ष अनेक चुनौतियाँ विद्यमान हैं। आज भी समाज में जातिगत हिंसा, सामाजिक भेदभाव तथा राजनीतिक उपेक्षा की समस्याएँ विभिन्न रूपों में दिखाई देती हैं। कई बार दलित राजनीति केवल सत्ता–प्राप्ति तक सीमित हो जाती है और सामाजिक परिवर्तन का मूल उद्देश्य कमजोर पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त दलित समाज के भीतर वर्गीय विभाजन, राजनीतिक विखण्डन तथा अवसरवादिता जैसी समस्याएँ भी चुनौतियों के रूप में सामने आती हैं। इसके बावजूद दलित राजनीति भारतीय लोकतंत्र में सामाजिक न्याय और समानता की दिशा में एक सशक्त शक्ति के रूप में स्थापित हुई है। समकालीन भारतीय समाज में दलित राजनीति की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। आधुनिकता, शिक्षा और संवैधानिक अधिकारों के बावजूद समाज में जातिगत असमानता और सामाजिक विषमता समाप्त नहीं हुई है। ऐसे समय में दलित राजनीति समाज को लोकतांत्रिक मूल्यों, सामाजिक न्याय और मानवीय समानता की ओर उन्मुख करती है। यह राजनीति केवल दलित समाज तक सीमित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण समाज के मानवीय और लोकतांत्रिक विकास से जुड़ी हुई है। इस प्रकार दलित सन्दर्भ के राजनीतिक आयाम भारतीय समाज और लोकतंत्र के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दलित राजनीति ने दलित समाज को आत्मसम्मान, अधिकार चेतना तथा राजनीतिक सहभागिता की दिशा में अग्रसर किया। इसने सामाजिक न्याय, समानता और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया। दलित राजनीति केवल सत्ता–साझेदारी का आन्दोलन नहीं, बल्कि मानवाधिकारों, सामाजिक परिवर्तन और लोकतांत्रिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से दलित राजनीति भारतीय समाज को अधिक समावेशी, न्यायपूर्ण और मानवीय बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

निष्कर्ष:

निष्कर्षतः भारतीय समाज और दलित चेतना का सम्बन्ध ऐतिहासिक, सामाजिक तथा वैचारिक दृष्टि से अत्यन्त गहरा और व्यापक है। भारतीय समाज की वर्ण–व्यवस्था तथा जातिगत संरचना ने सदियों तक समाज

को ऊँच–नीच, श्रेष्ठ–अश्रेष्ठ तथा शुद्ध–अशुद्ध जैसी अवधारणाओं में विभाजित रखा। इस व्यवस्था का सर्वाधिक दुष्प्रभाव उस वर्ग पर पड़ा, जिसे शूद्र, अन्त्यज अथवा अस्पृश्य कहा गया और जिसे आधुनिक समय में 'दलित' के रूप में पहचाना गया। दलित वर्ग सामाजिक उपेक्षा, आर्थिक शोषण, धार्मिक बहिष्कार तथा सांस्कृतिक अपमान का शिकार बना रहा। परिणामस्वरूप भारतीय समाज में गहरी सामाजिक विषमता और अन्याय की स्थिति उत्पन्न हुई। इसी ऐतिहासिक शोषण और असमानता के विरुद्ध उत्पन्न जागरूकता, आत्मसम्मान तथा अधिकार–बोध को दलित चेतना के रूप में समझा जाता है। दलित चेतना भारतीय समाज में सामाजिक न्याय, समानता और मानवीय गरिमा की स्थापना की सशक्त चेतना है। यह केवल किसी विशेष वर्ग की पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उस सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर है, जिसने मनुष्य को जाति के आधार पर विभाजित कर उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया। दलित चेतना ने समाज में यह विचार स्थापित किया कि मनुष्य की पहचान उसकी जाति से नहीं, बल्कि उसकी मानवीय अस्मिता और कर्म से होनी चाहिए। इस प्रकार दलित चेतना भारतीय समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों और मानवाधिकारों की स्थापना का महत्वपूर्ण आन्दोलन बनकर सामने आई। भारतीय समाज में दलित चेतना के विकास में सामाजिक सुधार आंदोलनों और आधुनिक शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ज्योतिराव फुले, सावित्रीबाई फुले तथा अन्य समाज सुधारकों ने जातिगत भेदभाव और सामाजिक असमानता के विरुद्ध संघर्ष कर दलित समाज में आत्मसम्मान और जागरूकता की भावना विकसित की। इसके अतिरिक्त डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित समाज को शिक्षा, संगठन और संघर्ष का मार्ग दिखाते हुए सामाजिक न्याय और समानता के लिए आजीवन संघर्ष किया। उन्होंने भारतीय संविधान में समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों को स्थापित कर दलित समाज को संवैधानिक अधिकार प्रदान किए। उनके विचारों और संघर्षों ने दलित चेतना को वैचारिक आधार तथा सामाजिक दिशा प्रदान की। दलित चेतना के सामाजिक सन्दर्भ का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि यह चेतना जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता और सामाजिक विषमता के विरुद्ध संघर्ष की चेतना है। इसने समाज में समानता, बंधुत्व और सामाजिक समरसता की स्थापना की आवश्यकता को रेखांकित किया। दलित चेतना ने यह स्पष्ट किया कि किसी भी लोकतांत्रिक समाज में जाति के आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन स्वीकार्य नहीं हो सकता। इस प्रकार दलित चेतना सामाजिक परिवर्तन और मानवतावादी मूल्यों की स्थापना का माध्यम बनती है। दलित चेतना का आर्थिक और राजनीतिक पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दलित समाज लंबे समय तक भूमिहीनता, श्रम–शोषण तथा आर्थिक विषमता का शिकार रहा। दलित चेतना ने आर्थिक समानता, श्रम की गरिमा तथा आत्मनिर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया। इसी प्रकार राजनीतिक स्तर पर भी दलित चेतना ने दलित समाज को अधिकारों, प्रतिनिधित्व और लोकतांत्रिक सहभागिता के प्रति जागरूक किया। आरक्षण व्यवस्था तथा संवैधानिक अधिकारों ने दलित समाज को सत्ता–संरचना और निर्णय–प्रक्रिया में भागीदारी का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार दलित चेतना सामाजिक और राजनीतिक सशक्तिकरण की चेतना भी है। दलित चेतना का साहित्यिक और सांस्कृतिक पक्ष हिन्दी साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। दलित साहित्य ने समाज के उपेक्षित और शोषित वर्गों की पीड़ा, संघर्ष और अस्मिता को स्वर प्रदान किया। ओमप्रकाश वाल्मीकि, शरणकुमार लिंबाले तथा अन्य दलित साहित्यकारों ने अपने भोगे हुए अनुभवों के आधार पर साहित्य को नई संवेदना और सामाजिक दृष्टि प्रदान की। दलित साहित्य ने साहित्य को केवल मनोरंजन और कलात्मकता तक सीमित न रखकर उसे सामाजिक परिवर्तन और मानवाधिकारों की चेतना का माध्यम बनाया। इस प्रकार दलित साहित्य भारतीय समाज में सामाजिक यथार्थ और मानवीय संघर्ष की प्रामाणिक अभिव्यक्ति बनकर उभरा। दलित चेतना का स्त्री–विमर्श से सम्बन्ध भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दलित स्त्री को समाज में जातिगत और लैंगिक दोनों प्रकार के शोषण का सामना करना पड़ता है। दलित चेतना ने दलित स्त्रियों की समस्याओं, संघर्षों और आत्मसम्मान को विशेष रूप से अभिव्यक्त किया है। दलित महिला लेखिकाओं ने अपने साहित्य के माध्यम से दलित स्त्री जीवन की वास्तविकताओं को सामने लाकर स्त्री–विमर्श को व्यापक सामाजिक संदर्भ प्रदान किया। इससे स्पष्ट होता है कि दलित चेतना केवल जातिगत समानता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह स्त्री–मुक्ति और लैंगिक समानता की भी पक्षधर है। समकालीन भारतीय समाज में दलित चेतना की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। आधुनिकता, शिक्षा और संवैधानिक अधिकारों के बावजूद समाज में जातिगत भेदभाव, सामाजिक हिंसा तथा आर्थिक विषमता की समस्याएँ विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं। ऐसे समय में दलित चेतना समाज को लोकतांत्रिक मूल्यों, सामाजिक न्याय और मानवीय समानता की ओर उन्मुख करती है। यह चेतना केवल दलित समाज तक सीमित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण

समाज के मानवीय और लोकतांत्रिक विकास से जुड़ी हुई है। इस प्रकार भारतीय समाज और दलित चेतना का सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन, लोकतांत्रिक विकास तथा मानवाधिकारों की स्थापना से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। दलित चेतना ने समाज के उपेक्षित वर्गों को आत्मसम्मान, अधिकार और अस्मिता के प्रति जागरूक किया तथा भारतीय समाज में सामाजिक न्याय, समानता और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस दृष्टि से दलित चेतना केवल प्रतिरोध की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि मानवतावादी मूल्यों, सामाजिक समरसता और लोकतांत्रिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति है।

संदर्भ –

[1] अम्बेडकर, भीमराव रामजी. जाति का विनाश. नई दिल्लीः नवयाना पब्लिशिंग, 2014.
[2] कीर, धनंजय. डॉ. अम्बेडकर : जीवन और मिशन. मुंबईः पॉपुलर प्रकाशन, 2005.
[3] ऑस्टिन, ग्रेनविल. भारतीय संविधान : राष्ट्र की आधारशिला. नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999.
[4] जाटव, डी. आर. भारत में दलित राजनीति. जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स, 2001.
[5] ओमवेट, गेल. दलित और लोकतांत्रिक क्रांति. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स, 1994.
[6] लिंबाले, शरणकुमार. दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की ओर. हैदराबाद : ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2004.
[7] गुरु, गोपाल. अपमान : दावे और संदर्भ. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2009.
[8] इलैया, कांचा. मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ. कोलकाता : सम्य प्रकाशन, 1996.